International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN :2581-9925, Impact Factor: 7.555, Volume 07, No. 01(II), January- March, 2025, pp. 218-222

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भगवदगीता की उपादेयता

डॉ. रेनू रानी शर्मा*

प्रस्तावना

श्रीमदभगवतगीता भारतीय साहित्य की अमरनिधि है। श्री शंकराचार्य से लेकर महात्मा गाँधी तक इस देश के महान विचारवेत्ता, समाजसुधारक, राजनीतिज्ञ, शिक्षक तथा दार्शनिक चिन्तक आदि सभी भगवतगीता की शिक्षाओं को जीवन का पथ प्रदर्शक मानते रहे हैं और सदियो से यह ग्रन्थ न केवल विद्वत समाज का अपितु सर्वसाधारण का भी ह्रदय की गहराईयों से पूज्नीय माननीय ग्रन्थ रहा है।

इतनी दीर्घकालीन परम्परा में इसका स्थान हमारे ह्रदयों में इतना ऊँचा इसलिए बन गया है क्योंकि इसमें सार्वभौम सिद्धान्तों का दिग्दर्शन है और उसका मन्तव्य गहन होते हुए भी जीवन का पथ प्रदर्शन स्पष्ट रूप से करता है।

गीता उपनिषदों का सार हैं, गीता ध्यान में इस ग्रन्थ के विषय में लिखा है –

सर्वोपनिषदो गावो दोधा गोपालन्नदनः

पार्थो वत्सः सुधीभौर्ता दुग्धंगीतामृत महत।। गीता ध्यानम् – 4।।

अर्थात सभी उपनिषद गौओं के समान हैं, श्री कृष्ण इन उपनिषद रूपी गौओं से संरगर्भित ज्ञान रूपी दुग्ध को दुहने वाले हैं अर्जुन उस ज्ञानामृत रूपी दुग्ध का पान करने वाले बछड़ा हैं। गीता का अमृततुल्य ज्ञान ही उपनिषद रूपी गायों का दुग्ध है। उक्त कथन का तात्पर्य है कि गीता ज्ञानामृत अर्जुन के लिए ही न होकर हम सभी ज्ञानपिपासुओं के लिए है।

भगवगीता का सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी विशेष सिद्धान्त पर आग्रह नहीं है। गीता का मुख्य विषय एकत्ववाद द्वित्ववाद त्रेतवाद अवतारवाद या विश्वरूपवाद किसी का भी प्रतिपान करना नही है । परन्तु गीता उन सबमें विरोध देखने के स्थान में उन सब में समन्वय करने का प्रयत्न करती है और उन सबकी दिशा को मोड़कर अपने मुख्य विषय नैतिकता तथा व्यावहारिकता की तरफ लाने का प्रयत्न करती है। गीात का लक्ष्य किसी पारमार्थिक या पारलौकिक सिद्धांत का प्रतिपादन करना ही नही अपितु उसका मुख्य विषय जीवन की व्यावहारिक समस्या को नैतिक समस्या को हल करना है। व्यावहारिक समस्याओं में सबसे बड़ी समस्या कर्तव्य – अकर्तव्य की है। यह समस्या कि हम क्या करें , क्या न करें, क्या उचित है क्या अनुचित है। कर्तव्य अकर्तव्य, उचित – अनुचित की समस्या ही नैतिक भी है। अर्जुन के समक्ष व्यावहारिक – जगत की यही नैतिक अनुचित की समस्या ही नैतिक भी है। अर्जुन के समक्ष व्यावहारिक –जगत की यही नैतिक समस्या भी उठ खडी हुयी थी। वह निश्चय ही नही कर पा रहा था कि जो स्थिति उसके सम्मुख उपस्थित हुई है उसमें वह क्या करे क्या न करे। गीता का मुख्य विषय इसी समस्या को हल करना है इस समस्या को हल करने के लिए श्री कृष्ण ने जिस अदभुत विचार श्रंखला को अर्जुन को शिक्षित करने के माध्यम से समस्त समाज के मानसतत्व तक पहुँचाया। उसे उन्होंने स्थित प्रज्ञता, निष्कामता, निस्संगता, कलासक्तित्याग, निमित्तमात्रता, भगवदर्पणता का नाम दिया।

* एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गोस्वामी गणेशदत्त सनातन धर्म कॉलेज, पलवल, हरियाणा।

इसी विचार के केन्द्र में रखकर गीता ने सब पारमार्थिक सिद्धान्तों का आश्रय लिया है भल ही वे एक दूसरे के केन्द्र में रखकर गीता ने सब पारमार्थिक सिद्धान्तों का आश्रय लिया है भले ही वे एक दूसरे के विरोधी हो या विरोधी प्रतीत होते हो परन्तु वस्तुतः सत्य हों। गीता का आग्रह तो सिर्फ एक बात पर है कि तुम जो भी करो निष्काम भाव से करो, आसक्ति को त्याग कर सिस्संग भाव से करो, फल की आशा स`मत को परंतु कर्म अवश्य करो फिर भले ही पारमार्थिक दृष्टि से कुछ भी मान कर चलो। संभवतः इसी आशा से वे कहते भी हैं –

ये यथा मां प्रपधन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम।

मम वतर्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पर्थ सर्वशः।। श्रीमद्भगवगीता –4/11 ।।

जो लोग जिस भावना से मेने पास आते है। (कोई फल की भावना से कोई अपने को अथवा कर्मफल को भगवान के अर्पण करने की भावना से) मैं उन्हें उसी प्रकार अपनाता हूँ। हे अर्जुन ! मनुष्य सब ओर से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं।

भगवतगीता के द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन की दुविधा के मूल कारण मोह का काट दिया । सब दुविधाओं का मूल कारण मोह है। तभी गीता के अठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण का लम्बा उपदेश श्रवण करने के उपरान्त अर्जुन कहते हैं 'नष्टो मोह' आपके उपदेश से मेरा मोह जिसके कारण मैं दुविधा में पड़ गया था, नष्ट हो गया है यह स्पष्ट करता है कि गीता का प्रतिपाद विषय मोह का नाश करना है। दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में अर्जुन ने स्वयं को 'धर्मसम्मूढ चेताः' कहा हे संमूढ का अर्थ भी मोह ग्रस्त है। मोह के कारण भी तो हम सब भी दुविधा में पडे रहते हैं ।

धातु पाठ के अनुसार 'मोह शब्द 'मुह वैचित्ये' – इस धातु से बना है। मन की वह अवस्था जिससे मनुष्य विचित्र हो जाय अपने चित्र में विवके में न रहे, मोह की अवस्था कहलाती है। अर्जुन ने विवके खो दिया था । परंतु मोह इतने तक ही सीमित नहीं है योगदर्शन में पाँच क्लेश गिनाये गये हैं – अविद्या – अस्मिता –राग –द्वेष– अभिनिवेशाः पच्चक्लेशाः' – सब कलेशों की जड़ अविद्या है। अविद्या से अस्मिता उत्पन्न होती है अस्मिता – अर्थात जो मैं नहीं हूँ उसे मै समझ लेना 'अहम अस्मि' समझ लेना – सांख्य दर्शन ने अस्मिता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि –दृगदर्शनयोरेकात्मता एव अस्मिता' अर्थात देखने वाला और दिखने वाला दोनों में एकत्व की भावना ही अस्मिता है इसी को गीता ने मोह कहा है। अस्मिता अर्थात अर्थात मोह में फंस कर ही तो अर्जुन युद्ध से भाग रहा है अपने सगे सम्बन्धियों के मोह जाल में फँस गया था। इस अस्मिता को मोहभाव को अनासक्ति के उपदेश से श्रीकृष्ण ने नष्ट कर दिया । अर्जुन की भांति हम सब भी तो 'अस्मिता' से 'मोह' से ग्रस्त हैं। प्रश्न यह है कि हमारा मोह कैसे दूर हो, हमारी दुविधा कैसे मिटे ? इसके लिए हमें भी अर्जुन जैसा ऋतु होना चाहिए, सरल होना चाहिये, मन में जो दुविधा हो उसे बेखटके गुरू के सामने रख देना चाहिए। जो अर्जुन जैसा सरल शिष्य बन जाता है उसे कृष्ण जैसा गुरू मिल ही जाता है । गुरू का काम शिष्य के चित को चारो तरफ से घेर लेने वाली अस्मिता को उसे विचित्र कर देने वाले मोह का लगाव को संग को अनासक्ति के उपदेश से नष्ट कर देना है । गीता का यही मर्म है।

अर्जुन के मोह को नष्ट करने के लिए श्रीकृष्ण जिन अमृततुल्य ज्ञानबिन्दुओं को अर्जुन के मानस को प्रक्षालित करने के लिए उपदिष्ट किया उनमें से कुछ मुख्य बिन्दुओं पर दृष्टिपात करेंगे ि कवे किस प्रकार वर्तमानन परिप्रेक्ष्य में समाज को दिशा प्रदान कर सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय' सिद्ध हो सकते हैं। अर्जुन के मोह को कैसे दूर किया जाय ? उसकी दुविधा उसके अन्तर्द्वन्द्ध को कैसे किया जाय। इस उददेश्य से द्वितीय अंक में श्रीकृष्ण तीन दृष्टियों से अर्जुन को समझाते है। ये तीन दृष्टियाँ सांख्यदृष्टि, स्वधर्मदृष्टि एवं योग दृष्टि। यहाँ अभिप्राय सांख्य एवं योग दर्शन से नहीं है अपितु सांख्य दृष्टि से अर्थ है – सन्यास की वैराग्य की दृष्टि। उदाहरणार्थ साधु – सन्यासी आन्नद से भिक्षा माँग कर जीवन निर्वाह करते हैं। अर्जुन भी उसी प्रकार से जीवन निर्वाह स्न्सास पूर्वक करने की बात करते है तब श्रीकृष्ण इस सांख्य दृष्टि से अर्जुन के मोह को काटने की बात करते हैं यह 11 वे से 30 वें श्लोक तक है।

देहिनोऽस्मिन यथा देहे, कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्ति, धीरस्तत्र न मुहयति।। श्रीमद्भगवद्गीता– 2/13 ।।

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुख दुःखदाः। श्रीमद्भगवद्गीता– 2/14 ।।

आगमपायिनोऽनित्यान्तान्तितिक्षस्व भारत।।

आत्मा जब अपने आप को इन्द्रियों के विषयों से अलग कर लेता है तो सर्दी – गर्मी, सुख –दुख सहन होती है हर स्थिति में समान रहने का अभ्यास हो जाता है। आत्मा जब अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तब मात्रा स्पर्श स्वतः टूट जाता है तब इन्द्रियाँ उसे न सुख की अनुभूति देती है न दुख की , न सर्दी की अनुभूति देती है न गर्मी की। आत्मा शाश्वत तत्व है इन्द्रियाँ नश्वर है तो शाश्वत और नश्वर का संयोग हमेशा रहने वाला नहीं है नित्य नहीं है क्योंकि वो दो के संयोग से बनी है, शरीर नष्ट होते ही इन्द्रियाँ स्वतः नष्ट हो जाती है और अतः हे अर्जुन इन विकारों को भी क्षणिक समझ कर सहन करना होगा। जब इस प्रकार की अवस्था आ जाये तो सुख दुख में समान रहने की अवस्था आ जाति है यही अमरत्व है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापों न शोषयति मारूतः।। श्रीमदभगवद्गीता – 2/23 ।।

आत्मा की अमरता का प्रामाणिक दिग्दर्शक करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन के मोह रूपी विकार को नष्ट करने का एक प्रयास करते है द्वितीय अंक के ही श्लोक 31 से 38 तक में स्वधर्म दृष्टि से विचार किया गया है अर्जुन क्षत्रिय धर्म का अनुसरण करता आया है अतः धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना उसका स्वधर्म है। जिसका जो धर्म है उसे वही पालन करना चाहिये। डॉ का धर्म मरीजो को सही चिकित्सा प्रदान करके उन्हें स्वस्थ करना। शिक्षक का धर्म है विधार्थियों को न केवल शिक्षित करना अपितु उन्हें उनकी नैतिक जिम्मेदारियों को संभालने में सक्षम एक अच्छा इन्सान बनाना भी है स्वधर्म पालन का वर्णन करते हुए ही तीसरे अध्याय के 18 –45 में कहाय गया है – स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः अपने अपने कर्म को निर्वहन करते हुए ही मनुष्य सफलता को एवं मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह कैसे संभव है कि अपने अपने स्वधर्म का पालन करहते हुए ही मौक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है तो इस विषय में गीता कहती है कि यज्ञार्थ कर्म, करो

'यज्ञार्थात कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' जो कर्म करे यज्ञार्थ करे। ईश्वरार्पण बुद्धि से करे। क्योंकि जब हम ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करेंगे तो सदकर्म ही करेंगे अर्थात ऐसे कर्म ही करेंगे जो ईश्वर को समर्पित करने योग्य हो। तब व्यावहारिक कर्म भी आध्यात्मिक कर्म की श्रेणी में आ जाता हे। यज्ञार्थ कर्म करने का तात्पर्य है समाज के लिये, देश तथा राष्ट्र हित के लिए किया जाने वाला कर्म।

गीता का कहना है कि जो भी काम करो तन्मयता पूर्वक, कर्तव्य बुद्धि, परार्थ भावना से करो, समाज सेवा की भावना से करो ऐसा करने से कर्म आध्यात्मिक हो जायेगा फिर कर्म बन्धन का कारण नहीं रहेगा। वही कर्म मोक्ष प्राप्ति का माध्यम बन जायेगा।

योग दृष्टि से अर्थ है 'कर्म की दृष्टि' । उदाहरणार्थ राजा जनक राज– काज भी करते थे, शत्रुओं से लड़ते भी थे, परन्तु सब कुछ निस्संग भाव से करते थे। कर्म में लिप्त नहीं होते थे उपनिषदों तथा गीता के काल में कर्म का अर्थ उस समय चले हुए वैदिक कर्मकाण्ड से था। अर्जुन कहीं कर्म योग से उस कर्मकांड को न समझें इसलिए श्रीकृष्ण पहले कर्मकांड की निसारता दिखा कर तब कर्मयोग का प्रतिपादन करते हैं। कर्मकाण्ड के विषय में तो कहा जाता था कि यदि यज्ञ पूरा न हुआ तो फल नही मिलेगा बीच में कोई विघ्न उपस्थित हो गया तो फल नहीं मिलेगा। कर्मयोग से युक्त रह कर जो कार्य किया जाता है उसमें न अभिक्रम नाश होता है न प्रत्यवाय । निष्काम भाव से ईश्वरार्पण बुद्धि से जो कर्म किया जाता है वह न तो नष्ट होता है न उसमें किसी प्रकार के विघ्न की संभावना है क्योंकि जब कर्म में फल की आश ही नहीं रखी गई तब फल प्राप्ति या अप्राप्ति का उददेश्य या भाव ही नही रहता ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते ।।

तस्माद् योगाय युज्जस्व योगः कर्मसु कौशलम्। श्रीमद्भगवद्गीता – 2/50।।

कर्मकांडी लोग भौतिकवादी लोग अच्छे तथा बुरे काम करते हैं ताकि उन्हें अच्छा और शत्रुओं को बुरा फल मिले। बुद्धियोगी, कर्मयोगी अध्यात्मवादी लोग फल का संग ही नहीं रखते इसलिए वे अच्छे बुरे के फेर में नही पड़ते । वे योग युक्त कर्म करते हैं। योग युक्त का क्या अर्थ है ? गीता के अनुसार कर्म फल के त्याग का तात्पर्य कर्म का त्याग नहीं है अपितु कर्म को और अधिक कुशलता से निष्ठा व बुद्धिमत्ता से करना है सकाम भाव से कर्म करने वाला फल पर, परिणाम पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जबकि निष्काम भाव से कर्म करने वाला फल पर ध्यान केन्द्रित करने के स्थान पर कर्म पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है फल पर ध्यान केन्द्रित करने से शक्ति का अपव्यय होता है वह शक्ति जो कर्म पर लगनी चाहिये थे वह फल पर भय, शंका आदि के रूप में नष्ट होती रहती है। कर्म –फल तो कारण कार्य नियम का अपरिहार्य परिणाम है, इसलिए अपनी शक्ति का अपयोग कर्म पर करना उचित है उसके फल पर अपव्यय करना अनुचित है। कर्म के सम्बन्ध में इस दृष्टि का उत्पन्न हो जाना कर्म योग है कर्म कौशल है। स्थितप्रज्ञता – जब कर्म करते हुए फल की इच्छा त्याग दी जाती है तब किसी प्रकार की घबराहट नही रहती, बुद्धि चलायमान रहने के स्थान में स्थिर रहती है निश्चयात्मिका रहती है इसको ही समाधि की अवस्था कहा गया है जिसमें सुख – दुःख का ज्ञान नहीं रहता, विषयों से संसर्ग टूट जाता है। यह चेतना के अभाव की अवस्था नहीं है सांसारिक विषयों के जगत से चेतना को काअ कर ब्रहा के आध्यात्मिक जगत से चेतना को जोड़ देने की अवस्था । इसी को गीता में कर्म योगी की समाधिस्थ अवस्था कहा है।

रागदवेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।

आत्मवश्यै विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। श्रीमद्भगवद्गीता – 2/64।।

जो व्यक्ति आसक्ति और दवेष से रहित होकर, अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करके अपने अन्तः करण को विशेष प्रकार से अर्थात ईश्वरार्पण बुद्धि से स्थिर करके संसार के विषयों में विचरता है तो वह प्रसन्नता को प्राप्त होता है और दिव्य प्रकाश से प्रकाशित प्रसन्न चित्त व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। कर्मयोगी के लिए बुद्धि की स्थिरता, निश्चयात्मिका बुद्धि का आश्रय परमावश्यक है।

कर्मयोग

कर्मयोग का वर्णन गीता के द्वितीय अध्याय में 39 से 53 श्लोक तक किया गया है। संख्या योग का अर्थ है कर्मसन्यास – कर्म छोड़ देना, यह समझ कर छोड़ देना कि आत्मा ही नित्य है, शरीर तो अनित्य है। इस अनित्य शरीर के लिए लोभ लालच क्यों रखा जाय। अर्जुन इसी दृष्टि से कर्म छोड़ रहा था, युद्ध से विरत हो रहा था। श्री कृष्ण ने इस दृष्टि से भी अर्जुन को समझाया कि यदि शरीर अनित्य है आत्मा तो अमर है, तब युद्ध से क्यों भागना, आत्मा तो मर ही नही सकता तो 'स्वधर्म' का पालन ही क्यों न किया जाय। गीता की परिभाषा में कर्मयोग का तात्पर्य सिर्फ कर्म करते जाना ही नहीं है अपितु ईश्वरार्पण बुद्धि से स्वच्छ अंतः करण से कर्म करना कर्मयोग है। जीवन के रणक्षेत्र में खड़ा हुआ प्रत्येक व्यक्ति अर्जुन है। प्रत्येक के सम्मुख जीवन की कठोर विषम परिस्थितियाँ उठ खड़ी होती है।

हम में से प्रत्येक इन विषम परिस्थितियों में अपने हथियार फेंक कर निराशापूर्वक करूण क्रन्दन करने लग जाता है। गीता के कर्मयोग ने गांडीव फेंक कर पलायन करने वाले अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश देकर फिर से रणभूमि में लाकरी खडा कर दिया था, वही कर्मयोग का उपदेश हमें भी निराशा से आशा के जगत में लाकर खडा कर सकता है। प्रश्न यह है कि वह 'कर्मयोग' जिसने निराश ह्रदय में आशा के जगत में लाकर खड़ा कर सकता है। प्रश्न यह है कि वह 'कर्मयोग' जिसने निराश ह्रदय में आशा का संचार कर दिया, जिसने भयगस्त को साहसी, कर्मसन्यासी को कर्मयोगी बना दिया उसका किस प्रकार पालन किया जाय। कर्म के विषय में तीन विचार हो सकते हैं कि फल का त्याग करना हो तो कर्म हो क्यों करों जोकि तमोगुणी प्रवृत्ति है 2 –

कर्म करो और फल पर अपना अधिकार समझो – यह रजोगुणी प्रवृत्ति है। 3 – कर्म करो परन्तु फल पर अपना अधिकार मत समझो – यह सत्वगुणी प्रवृत्ति है। सत्वगुणी व्यक्ति का दृष्टिकोण ही कर्मयोग का दृष्टिकोण हैं। कर्मयोग के इसी मार्ग को निष्काम कर्म कहा गया है।

गीता हमें यथार्थ स्थिति को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करती है यथार्थ स्थिति यह है कि कर्म करना हमारे हाथ में है फल हमारे हाथ में नही है। जो वस्तु हमारे हाथ में नही हमारे अधिकार क्षेत्र में नहीं उसके लिए व्यर्थ में क्यों विचार करना गीता का कहना है की कर्म करते हुए फल पर अधिकार न रखना ही जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टि है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा.फलेषु कदाचन ।

माकर्मफल हेर्तुभूर्मातेसडोडस्त्वकर्मणि।। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता – 2/47।।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या फल की आसक्ति को छोड़कर कर्म करना संभव भी है त्र गीता का कहना है कि कर्म फल की आसक्ति मन में बैठी हो होती है परन्तु उसे होना चाहिए क्योंकि फल हमारे हाथ में नहीं है। मन में ऐसी अनासक्ति के अवस्था ले आना संभव है कर्मयोग का अर्थ कर्म के फल की आशा का त्याग नहीं अपितु फल के प्रति आसक्ति का लगाव का त्याग है। आचार्य विनोभा भावे का कहना है कि निष्काम कर्म स्वतः एक फल है इसलिए निष्काम व्यक्ति किसी अन्य फल की तरफ नहीं देखता । तमोगुणी एवं रजोगुणी प्रवृतियों से दूर रहने के लिए गीता में इन्द्रिय संयम पर बल दिया गया है एव सचेत करने के लिए शिक्षित भी किया गया है कि –

राग दवेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्दियैश्चरन।

आत्मवश्यैविधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता – 2/64।।

गीता का सम्पूण कर्म सिद्धान्त उसकी यज्ञ सम्बन्धी भावना पर आधारित है। जैसा की ऋग्वेद के पुरूष सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि –

यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ऋ 10/90/16

यज्ञ से ही यज्ञ किया देवताओं ने वह उनका प्रथम धर्म था। यज्ञ से ही यज्ञ क अर्थ है परस्पर आदान–प्रदान (संगतिकरणदान) परस्पर आदान प्रदान ही जीवन का नियम है इसके बिना एक क्षण भी कोई जी नही सकता और यह तथ्य सृष्टिकर्ता परमेश्वर की इच्छा की समस्त संसार को अनुपालना करनी है। जीवन का यज्ञ है। इसकी पूर्णता आत्मदान से होती है यही आत्मदान ही निष्कामता है।

❖◆❖